5. ध्वनि-सिद्धान्त

भारतीय काव्यशास्त्र के विभिन्न सिद्धान्तों में सबसे प्रबल एवं महत्त्वपूर्ण ध्वनि सिद्धान्त है। यद्यपि इसका विरोध भी सबसे अधिक हुआ किन्तु इसके अनुयायियों की समर्थ व्याख्या तथा विरोधियों के तर्कों के खण्डन से यह अग्नि में पड़े हुए स्वर्ण के समान विशुद्ध एवं दीप्तिमान होता गया। ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना का श्रेय आचार्य आनन्दवर्धन को है। अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोक' पर लोचन टीका लिखकर इस सिद्धान्त की सशक्त व्याख्या की। आचार्य मम्मट ने भी ध्वनि-विरोधी मुकुल भट्ट, महिमभट्ट, कुन्तक आदि की युक्तियों का सतर्क खण्डनकर ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना की। उन्होनें व्यंजना को काव्य के लिए अपरिहार्य माना, इसीलिए उन्हें 'ध्वनि-प्रतिष्ठापक परमाचार्य कहा जाता है। ध्वनि सम्प्रदाय के इतिहास में उक्त तीनों आचार्यों का क्रमशः स्थापना, व्याख्या तथा ध्वनि विरोधियों के खण्डन की द ष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है।

ध्वनि सिद्धान्त का भव्य भवन व्यंजना की रमणीयता पर आश्रित है। ध्वनि-सौन्दर्य वस्तुतः व्यंग्यार्थ का सौन्दर्य ही है।

ध्वनि का स्वरूप

'ध्वनि' शब्द का प्रयोग व्यंजक शब्द, वाच्यार्थ, व्यंग्यार्थ, व्यंजना-व्यापार एवं व्यंजना-प्रधान काव्य, इन पाँचों अर्थों में किया गया है। अभिनवगुप्त का मत भी इसी प्रकार का है। इन पाँचों को ध्वनि मानने के लिए 'ध्वनि' शब्द की व्युत्पत्ति भिन्न-भिन्न प्रकार से करनी होगी। यथा-

1. **व्यंजक शब्द**-उस व्यंजक शब्द को ध्वनि कहते हैं, जो अन्य अर्थ को ध्वनित करे या कराए-'ध्वनति ध्वनयति वा यः स व्यंजकः ध्वनिः। इस व्युत्पत्ति के आधार पर वाचक, लाक्षणिक एवं व्यंजक तीन प्रकार के शब्द ध्वनि कहे जाते हैं।

2. **व्यंजक अर्थ**-वह व्यंजक अर्थ ध्वनि है, जो अन्य अर्थ का ध्वनित करे या कराए-'ध्वनति ध्वनयति वा यः सः व्यंजको र्थः ध्वनिः।' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिस अर्थ को आधार बनाकर व्यंग्यार्थ अभिव्यक्ति पाता है, उस अर्थ को ध्वनि कहा गया है।

3. **व्यंग्यार्थ**-जो ध्वनित हो उसे ध्वनि कहते हैं- 'ध्वन्यते इतिध्वनिः' इन व्युत्पत्ति के अनुसार वस्तु, अलंकार एवं रस तीनों ही ध्वनि के अन्तर्गत आ जाते हैं, क्योंकि तीनों ही ध्वनित होते हैं।

4. **व्यंजना-व्यापार**-जिसके द्वारा ध्वनित किया जाए, वह ध्वनि है- 'ध्वन्यते अनेनइतिध्वनिः।' इस व्युत्पत्ति के अनुसार शब्दार्थ के व्यापार अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना तीनो ही ध्वनि है, क्योंकि जिस ''शब्द-शक्ति के द्वारा ध्वनि की उत्पत्ति होगी, वह ध्वनि है।''

5. **व्यंजना-प्रधान काव्य**-जिस काव्य में रस, अलंकार एवं वस्तु ध्वनित होते हैं, वह काव्य ध्वनि-काव्य है - 'ध्वन्यते स्मिश्रिति ध्वनिः।

इस प्रकार ध्वनि शब्द का प्रयोग पाँच अर्थों में किया गया है।

व्यंजक शब्द, व्यंजक अर्थ, व्यंग्यार्थ, व्यंजना-व्यापार तथा व्यंजना प्रधान काव्य। इन पाँचों को ध्वनि संज्ञा से व्यवहृत करते हुए भी ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने ध्वनि-काव्य को ही प्रमुख माना है। ध्वनि

की परिभाषा देते हुए उन्होनें व्यंजना-प्रधान काव्य को ही ध्वनि नाम से अभिहित किया है। उनकी ध्वनि की परिभाषा इस प्रकार है-

यथार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीक त स्वार्थो।
व्यङ्कतः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सुरिभिः कथितः।

अर्थात् जिस काव्य में वाच्यार्थ या वाचक शब्द क्रमशः अपने स्वरूप या अपने अर्थ को गुणीभूत करके, उस प्रतीयमानार्थ को अभिव्यक्त करते हैं, उस काव्य-विशेष को विद्वान लोग ध्वनि-काव्य कहते हैं।

आनन्दवर्द्धन के अनुसार अर्थ दो प्रकार के होते हैं - वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ या प्रतीयमानार्थ वाच्यार्थ शब्दार्थ को कहते हैं। यह स्थूल, किन्तु व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति का साधन होता है। जैसे घण्टे पर चोट करने से पहले अत्यन्त कर्कश स्थूल ध्वनि निकलती है और उसके बाद अत्यन्त श्रवण-सुखद मधुर अनुरण होता है, वैसे ही काव्य से पहले वाच्यार्थ सामने आता है और उसके बाद हृदयावर्जक व्यंग्यार्थ। ये दोनो अर्थ परस्पर प थक् अस्तित्व रखते हैं। जिस काव्य मे वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारयुक्त होता है, उसे ध्वनि काव्य कहते हैं। इसे सरल शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि जहाँ वाच्यार्थ का प्रतीति का आधार है - अभिधा-शक्ति। वाच्यार्थ की प्रतीति के उपरान्त व्यंजना-शक्ति द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। यह व्यंग्यार्थ ही ध्वनि का मेरुदण्ड है। वाच्यार्थ सर्वजन-संवेद्य होता है, जबकि व्यंग्यार्थ मात्र सहृदयसंवेद्य। व्यंग्यार्थ के विषय में आनन्दवर्धन का मत है कि जिस प्रकार रमणियों के प्रसिद्व अवयवों (मुख, कान, नाम आदि) से भिन्न लावण्य एक प थक् ही पदार्थ है, जो उसके समस्त अंगो को शोभित करता है, उसी प्रकार महाकवियों के काव्य में वाच्यार्थ से भिन्न प्रतीयमानार्थ कुछ और ही तत्त्व है। जहाँ इस प्रतीयमानार्थ का प्राधान्य होता है, वही ध्वनि-काव्य है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि आनन्दवर्द्धन ने व्यंग्यार्थ को ही काव्य का निकष माना है। उनकी यह धारणा काव्य-विभाजन से और भी स्पष्ट हो जाती है। उन्होनें काव्य के तीन भेद किए हैं-ध्वनि काव्य, गुणीभूतव्यंग्य-काव्य और चित्त काव्य। जिस काव्य में व्यंग्यार्थ का प्राधान्य होता है, अर्थात् वह वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक रमणीय होता है, उसे ध्वनि-काव्य कहा गया है। यह उत्तम काव्य है। जिस काव्य में व्यंग्यार्थ का अस्तित्व तो हो, लेकिन उसका प्राधान्य न हो, अर्थात् वह वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक रमणीय एवं आह्लादक न हो, उसे गुणीभूत व्यंग्य कहा गया है, यह मध्यम स्तर का होता है, जिस काव्य में व्यंग्यार्थ का अस्तित्व ही विद्यमान न हो, कवि मात्र शब्द-चमत्कार या अर्थ-चमत्कार के लिए प्रयत्नशील रहा हो, उसे चित्र-काव्य कहा गया है, यह अधम कोटि का काव्य है। इस काव्य विभाजन से स्पष्ट है कि आचार्य आनन्द व्यंग्यार्थ को ही काव्यत्व का निकष मानते है। उसके प्राधान्य में उत्तमता, मात्र अस्तित्व होने पर मध्यम स्थिति मानी गई है और उसके सर्वथा अभाव में काव्य को निक ष्ट कोटि का माना गया है।

ध्वनि-सिद्धान्त की प्रमुख स्थापनाएँ

'ध्वन्यालोक' ध्वनि का आधारभूत ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की प्रथम कारिका में ही आनन्दवर्धन ने ध्वनि-विरोधियों का उल्लेख करते हुए कहा है कि काव्य के आधारभूत जिस तत्त्व को विद्वान लोग ध्वनि नाम से कहते आए हैं, कुछ लोग उनका अभाव मानते हैं, कुछ उसे लक्षणा-गम्य कहते हैं। तथा कुछ उसे सर्वथा अनिर्वचनीय स्वीकारते हैं। इस प्रथम कारिका से स्पष्ट होता है कि आनन्दवर्धन से पूर्व भी ध्वनि का विवेचन हुआ है। विद्वानों का यह भी मत है कि वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्तों में ध्वनि का रूप सुरक्षित देखकर ही आनन्दवर्धन ने इसे प्राचीन एवं परम्परा-प्रसिद्ध माना है। जो भी हो, आनन्दवर्द्धन ने अपने ग्रन्थ की प्रथम कारिका मे ही ध्वनि-विरोधी मतों का सतर्क खण्डन किया है।

ये ध्वनि-विरोधी तीन प्रकार के माने गए हैं - अभाववादी, भक्तिवादी तथा अलक्षणीयतावादी। इन ध्वनि-विरोधियों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है-

1. **अभाववादी**-अभाववादी वर्ग के तीन निम्न विकल्प हैं, जो इस प्रकार से हैंः-

   (क) शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं। इनमें अनुप्रासादि शब्दालंकार शब्दगत चारुत्व के हेतु प्रसिद्ध है और उपमादि अर्थालंकार चारुत्व के। माधुर्यादि जो वर्ण-संघटनाधर्म है, उनकी भी प्रतीति होती है।

   (ख) शब्दार्थ काव्य का शरीर है। जो शब्द एवं अर्थ सहृदयों के हृदय को आह्लादित करते हैं- उन्हीं में परम्परा से काव्यत्व हो ही नहीं सकता।

   (ग) ध्वनि नामक कोई अपूर्व तत्त्व सम्भव ही नहीं हैं क्योंकि रमणीयता का अतिक्रमण न करने के कारण अन्य रमणीयता हेतुओं मे उसका अन्तर्भाव कर देना चाहिए, अन्यथा उन्हीं में से किसी एक का नाम ध्वनि रख दिया जाए तो उस पर बहुत कम कहना शेष रह जाएगा।

2. **भक्तिवादी**-ध्वनि विरोधी दूसरा भक्तिवादी है। ये ध्वनि का अन्तर्भाव लक्षणा में मानते हैं। इन लोगो का मत है कि-व्यंजनावादियों के प्रयोजन (व्यंग्यार्थ) की प्रतीति लक्षणा द्वारा ही हो जाती है। यद्यपि लक्षणावादी विचारकों ने ध्वनि शब्द का प्रयोग करके उसे पर्याय रूप में लक्षणा या गुणव त्ति का प्रयोग कहीं नहीं किया, तथापि लक्षणावादियों द्वारा व्यंजना की सत्ता न मानने के कारण ध्वनिकार के लिए यह आवश्यक हो उठा है कि वह लक्षणा एवं ध्वनि के अन्तर को स्पष्ट करके अपने सिद्धान्त की निर्भ्रान्त स्थापना करे। अतएव आनन्दवर्धन ने ध्वनि विरोधी मतों में लक्षणावादी या भक्तिवादी मत का भी परिगणन किया है।

3. **अलक्षणीयतावादी**-अलक्षणीयतावादी मत ध्वनि को अलक्षणीय कहकर सहृदय-हृदय-संवेद्य मानता है। उनके अनुसार-पूर्ण परम्परा में प्रसिद्ध सौन्दर्य-तत्त्वों के अतिरिक्त कोई अपूर्ण तत्त्व विद्यमान तो है, लेकिन वह सहृदय-हृदय-संवेद्य है, उसकी किसी भी प्रकार परिभाषा नहीं की जा सकती। वह अनिर्वचनीय है, वाणी का विषय नहीं।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने तीन ध्वनि-विरोधी मतों का सतर्क खण्डन कर अपने ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना की है। यहाँ संक्षेप मे ध्वनिकार द्वारा पूर्ववर्ती मतों का खण्डन दर्शनीय है-

ध्वनि का अन्तर्भाव अलंकारादि में सम्भव नहीं है, क्योंकि अलंकार-गुणादि वाच्य-वाचक भाव पर आश्रित रहते हैं, जबकि ध्वनि व्यंग्य व्यंजक भाव पर। अतः ध्वनि का अन्तर्भाव अलंकार-गुणादि में नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत, गुण-अलंकार ही ध्वनि की अंगरूपता को प्राप्त कर जाते हैं।

पर्यायोक्ति, आक्षेप, समायोक्ति आदि अलंकारों मे व्यंग्यार्थ का अस्तित्व आवश्यक रहता है, लेकिन वह वहाँ प्रधानरूप मे न रहकर, गौणरूप में ही रहता है, जबकि ध्वनि में व्यंग्यार्थ का प्राधान्य रहता है। ध्वनि की स्थापना से पूर्व विद्वान काव्य का आस्वादन लेते थे, अतः ध्वनि की स्थापना एवं व्याख्या निरर्थक सिद्ध हो जाती है-ऐसा कहना उपयुक्त नहीं है। क्योंकि ध्वनि की स्थापना से पूर्व लक्ष्य-ग्रन्थों मे व्यंग्यार्थ का प्रयोग मिलता ही था। अतः आस्वादन करना स्वाभाविक है। इस ध्वनि का केवल शास्त्रीय विवेचन नहीं हुआ था। व्यंग्यार्थ का महत्त्व व्यंजना से की है-यही ध्वनि का मूलाधार है। आनन्दवर्धन ने इसकी सम्यक् परिभाषा दी है और उदाहरण देकर उसे परिपुष्ट किया है। अतः उसे मात्र सहृदय-हृदय-संवेध कहना या अलक्षणीय मानना उचित नहीं है। यदि ऐसी स्थिति में भी ध्वनि अलक्षणीय रहेगी तो सभी वस्तुएँ अलक्षणीय हो जाएँगी।

आनन्दवर्धन द्वारा इतने सबल एवं सशक्त तर्कों के आधार पर प्रतिष्ठित होने पर भी ध्वनि-सिद्धान्त को परवर्ती काल मे विरोधियों का सामना करना पड़ा। इन ध्वनि-विरोधियों में प्रमुख है- मुकुलभट्ट, भट्टनायक, धनंजय, कुन्तक तथा महिमभट्ट। आचार्य मुकुलभट्ट ने अपने ग्रन्थ 'अभिधा-व त्तिमात का) में एकमात्र अभिधा को ही शक्ति स्वीकार किया है। उन्होनें अभिधा को चार भेदों-जाति, गुण, क्रिया एवं यद च्छा-में ही लक्षणा के छः भेदों को मिलाकर अभिधा के दस भेद किए हैं। इस प्रकार मुकुल भट्ट अभिधा के अतिरिक्त अन्य किसी शक्ति की आवश्यकता ही नहीं स्वीकारते। हृदयदर्पणकार भट्टनायक रस के समर्थक एवं ध्वनि के प्रबल विरोधी हैं। मीमांसक भट्टनायक का भरत के रससूत्र के व्याख्याताओं में प्रमुख स्थान है। मीमांसा में भावना की प्रधानता होती है, इसलिए ये रससूत्र के व्याख्या भावना (भावकत्व एवं भोजकत्व) के आधार पर करते हैं, व्यंजना के आधार पर नहीं। रस-निष्पत्ति की व्याख्या में इन्होनें तीन शक्तियाँ मानी हैं-अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व।

भट्टनायक ने इस साधारणीकरण द्वारा इस समस्या का समुचित समाधान प्रस्तुत किया कि प्रमाता धार्मिक अवतार शिव-पार्वती की रति का आनन्द कैसे ले सकता है। तदुपरान्त भोजकत्व शक्ति से प्रमाता रस का आस्वादन करता है। इस प्रकार वे रस-निष्पत्ति की व्याख्या भावकत्व एवं भोजकत्व शक्ति के आधार पर करते हैं। व्यंजना के आधार पर नहीं और व्यंजना के अभाव में ध्वनि का अस्तित्व ही विलीन हो जाता है।

इन सम्पूर्ण ध्वनि विरोधियों का सतर्क खण्डन आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' के पंचम उल्लास में विस्तारपूर्वक किया है और व्यंजना की अपरिहार्यता सिद्ध की है। उनका मत है कि काव्य का प्रमुख प्रयोजन है रस। कभी अभिधा से वाच्य नहीं हो सकता। यदि ऐसा होता तो रस या श ंगारादि से उसकी प्रतीति हो जाती, जबकि नाममात्र से रस-प्रतीति नहीं होती। जहाँ विभावादि का चित्रण नहीं है, वहाँ भले ही रस या श ंगारादि पदों का प्रयोग करें, पाठक को रसानुभूति नहीं होती। इसके विपरीत जहाँ विभावादि का चित्रण होता है, वहाँ उक्त पदों के अभाव में भी रसानुभूति होती है। इसका तात्पर्य यह है कि रसानुभूति विभावादि पर आश्रित है, रस या श ंगारादि पदों पर नहीं। अतः रस-प्रतीति के लिए व्यंजना का अस्तित्व मानना आवश्यक है। ध्वनि तत्त्व का विश्लेषण ही लक्ष्य माना है। ध्वनिवादी आचार्यों में आनन्दवर्धन संस्थापक तथा अभिनवगुप्त व्याख्याता हैं, लेकिन ध्वनि-विरोधियों का सतर्क खण्डन आचार्य मम्मट ने ही किया है, अतः उन्हें 'ध्वनि-प्रस्थानपरमाचार्य' कहा जाता है।

ध्वनि काव्य के प्रमुख भेद

अभिव्यंग्य के आधार ध्वनि को तीन भागों में विभाजित किया गया है। कहीं व्यंग्यार्थ वस्तुमात्र होता है, कहीं अलंकाररूप और कहीं रस-रूप। इसी आधार पर इन तीनों को वस्तु-ध्वनि, अलंकार-ध्वनि तथा रस-ध्वनि कहा जाता है। इन पर संक्षेप में विचार इस प्रकार है-

(क) **वस्तु ध्वनिः** जहाँ व्यंग्यार्थ में किसी अलंकार की व्यंजना न हो, मात्र वस्तु या विचार ही व्यंजित हो रहा है, वहाँ वस्तु ध्वनि होती है। यथा-

रो-रोकर सिसक-सिसककर,
कहता मैं करुण कहानी
तुम सुमन नोचते सुनते,
करते जानी अजजानी।

यहाँ व्यंग्यरूप में कोई अलंकार या रस व्यंजित नहीं हो रहा है, मात्र वस्तु ही व्यंजित हो रही है, अतः वस्तु-ध्वनि है।

(ख) **अलंकार-ध्वनिः** जहाँ व्यंग्यार्थ में मात्र वस्तु ही नहीं, बल्कि अलंकार की भी व्यंजना हो रही है, वहाँ अलंकार-ध्वनि होती है। यह ध्वनि वस्तु-ध्वनि की अपेक्षा श्रेष्ठ मानी जाती है।

निस में ही ससि करतु हैं केवल भुवन प्रकाश।
तेरा जस निस-दिन करत त्रिभुवन धवल उजास।

इस छंद का विश्लेषण भी पीछे किया जा चुका है। यहाँ व्यंग्यरूप में व्यतिरेक अलंकार व्यंजित हो रहा है, अतः अलंकार-ध्वनि है।

(ग) **रस-ध्वनिः** जहाँ व्यंग्यार्थ वस्तु या अलंकाररूप न होकर रसरूप हो, वहाँ रस-ध्वनि होती है। यह ध्वनि तीनों में श्रेष्ठ होती है। रसभावादि में इसकी स्थिति रहती है-

लखि निर्जन भौंन उठी परजंक सौं बाल चली सनकै ललचायकै।
छल-सौं द ग मीलित पी मुखकौं, बड़ी देर लौं देखि हिये हुलसायकै।
मुख चुम्बन लेत, कपोल लखै, पुलकै भई नम्रमुखी सकुचायकै।
हंसिकै पिय ने तब भामिनी कौ अधराम त पान कियौ मनभाइकै।

यहाँ नव-वधु के संयोग-श ंगार का चित्र है। नायिका आश्रय है, नायक आलम्बन। रति स्थायी भाव है, एकान्तस्थल, तरुण एवं सुन्दर नायक की मनोरम मुखाक ति उद्दीपन है। नायक के मुख कपोलादि देखना, नम्रमुखी होना, आनन्दित होना अनुभाव है। शंका, औत्सुक्य, बीड़ा आदि संचारी भाव हैं। उक्त विभाव, अनुभाव एवं संचारी भाव ही वाच्यार्थ रूप में स्थित हैं, जिनसे रसरूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो रही है, अतः यहाँ रस-ध्वनि है।

1. गुणीभूत - व्यंग्य काव्य

रमणियों के कमनीय कलेवर में प्रस्फुटित विलक्षण लावण्य के समान सहृदय-हृदयों के लिए आवर्जक जिस व्यंग्यार्थ का काव्य में प्रतिपादन किया जाता है। उसका प्राधान्य होने पर ध्वनि-काव्य कहा जाता है, परन्तु व्यंग्यार्थ के गौण हो जाने से वाच्यार्थ में रमणीयता का आधिक्य हो जाने पर काव्य गुणीभूत-व्यंग्य कहलाता है। जिन काव्योक्तियों में व्यंग्य का संस्पर्श मात्र भी रहे तथा जिनमें रूपकादि अलंकार भी हो, वे सभी गुणीभूत-व्यंग्य के अन्तर्गत आ जाते हैं।

गुणीभूत-व्यंग्य के आठ भेद कहे गए हैं। ये हैं - अगूढ़, अपरांग, वाच्यसिद्धयंग, अस्फुट, सन्दिग्धप्राधान्य, तुल्याप्राधान्य, काक्वाक्षिप्त तथा असुन्दर। यहाँ इनके स्वरूप को समझ लेना आवश्यक हो जाता है।

1. **अगूढ़ः** हिन्दी-साहित्य में सौन्दर्य विषयक यह दोहा बहुप्रचलित है।

सर्व ढंके सोहै नहीं, उधरे होत कुबेस।
अर्ध ढंके, छवि देत है कवि-आखर कुच केस।।

तात्पर्य यह है कि कवि-अक्षर (कवि का प्रतिपाद्य) न तो इतना निगूहित हो कि सहृदय भी कठिनता से समझ सकें और न इतना सरल हो कि सर्वजन सुलभ हो, बल्कि मात्र सहृदय-संवेद्य हो।

2. **अपरांगः** अपरांग का अर्थ है दूसरे का अंग हो जाना अथवा अन्य किसी की पुष्टि करना। जहाँ रसादि असंलक्ष्यक्रम ध्वनियाँ किसी अन्य रसादि ध्वनि का अंग हो जाती है अथवा कोई व्यंग्यार्थ किसी अन्य का अंग हो जाता है तो उसे ध्वनि कहा जा सकता, क्योंकि ध्वनि-काव्य व्यंग्यार्थ का प्राधान्य होने पर ही सम्भव है। अन्य का अंग हो जाने पर वह स्वभावतः ही गौण हो जाता है, अतः इसे गुणीभूत व्यंग्य में परिगणित किया जाता है।

3. **वाच्यसिद्धयंगः** वाच्यसिद्धयंग में व्यंग्यार्थ वाच्य की सिद्धि के लिए उसका अंग हो जाता है, अर्थात् वाच्य की सिद्धि बिना व्यंग्यार्थ के ग्रहण के सम्भव नहीं होती। अतः व्यंग्यार्थ जो वाच्य की सिद्धि के लिए उसका अंग बनता है, वाच्यसिद्धयंग व्यंग्य कहलाता है। यथा

करत प्रकाश सुदिसिन को, रही ज्योति अति जागि।
है प्रताप तेरी न पति बैरी-बंस-दवागि।।

उक्त दोहे में बैरी के सामीप्य के कारण 'बंस' का अर्थ वंश हुआ, लेकिन इससे वाच्यार्थ की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि दावाग्नि बैरी-वंश का क्या बिगाड़ सकती है।

4. **अस्फुटः** जहाँ व्यंग्यार्थ इतना निगूहित हो कि सहृदयों को भी उसकी प्रतीति कठिनता से हो सके, वहाँ अस्फुट गुणीभूत-व्यंग्य होता है। काव्य में व्यंग्यार्थ की स्थिति कामिनी क्रचकवश-न्याय से मानी जाती है।

5. **तुल्यप्राधान्यः** जहाँ वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ में समान चारुत्व होता है, वहाँ तुल्यप्राधान्य व्यंग्य होता है। इसमें वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ दोनों एक समान ही चमत्कारजनक होते हैं। संदिग्ध प्राधान्य में वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ की उत्क ष्टता का सापेक्षित निर्णय नहीं हो पाता, जबकि तुल्यप्राधान्य में वे निश्चितरूप से समान चमत्कारजनक कहे जा सकते हैं। यथा-

आज बचपन का कोमल गात,
जरा का पीला पात,
चार दिन सुखद चाँदनी रात,
और फिर अन्धकार अज्ञात।

इन पंक्तियों का व्यंग्यार्थ यह है कि सभी दिन एक समान व्यतीत नहीं होते, उत्थान-पतन, विकास-हास यह तो स ष्टि का नियम है। इस व्यंग्यार्थ तथा वाच्यार्थ में समान ही चमत्कार विद्यमान है।

6. **सन्दिग्धप्राधान्यः** जहाँ वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ के प्राधान्य का स्पष्ट निर्णय न हो सके, यह संदेह बना रहे कि चमत्काराधिक्य किसमें है, वहाँ सन्दिग्धप्राधान्य नामक गुणीभूत-व्यंग्य होता है। व्यंग्यार्थ के प्राधान्य का विवादास्पद होना ही उसे गुणीभूत-व्यंग्य बना देता है, क्योंकि ध्वनि-काव्य व्यंग्यार्थ के प्राधान्य का विवादास्पद होना ही उसे गुणीभूत-व्यंग्य बना देता है, क्योंकि ध्वनि-काव्य व्यंग्यार्थ के प्राधान्य की स्थिति में ही हो सकता है।

थके नयन रघुपति छवि देखी।
पलकनहूँ परिहरी निमेखी।
अधिक सनेह देह भई भोरी।
सरद ससिहिं जनु चितव चकोरी।

सीताजी भगवान् राम के लोकोत्तर सौन्दर्य को देखकर उसी प्रकार भाव-विभोर हो गईं, जिस प्रकार चकोरी शरदकालीन चन्द्रमा को देखकर भाव-विभोर हो जाती है।

7. **काक्वाक्षिप्तः** काकु से तात्पर्य कण्ठ-ध्वनि से है। जहाँ व्यंग्यार्थ काकु से खींचकर ग्रहण किया जाए, वहाँ काक्वाक्षिप्त व्यंग्य कहलाता है। इसको गुणीभूत व्यंग्य में इसलिए परिगणित किया जाता है, क्योंकि यह सरलता एवं शीघ्रता से विदित हो जाता है। जहाँ काकु द्वारा विधि निषेधात्मक अर्थ की प्रतीति के उपरान्त ध्वन्यर्थ निकलता है, वह देर से निकलता है तथा मात्र सहृदय-संवेद्य होता है। अतः वहाँ काकुवैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना होती है, जबकि काक्वाक्षिप्त में व्यंग्य सरलता से निकलने के कारण सर्वजन संवेद्य होता है - दोनों में यही सूक्ष्म अन्तर हैं। एक उदाहरण प्रस्तुत है-

है दशसीस मनुज रघुनायक।
जाके हनूमान से पायक।

उक्त चौपाई का वाच्यार्थ है कि राम मानव है, लेकिन काकु के बल पर विधिपरक वाच्यार्थ से निषेधात्मक व्यंग्यार्थ निकलता है कि जिस व्यक्ति के स्वर्णिम लंका को जलाने

और अक्षय कुमार को मारनेवाले हनुमान जैसे दूत हैं, उसके योद्धाओं के विषय में क्या कहा जा सकता है। ऐसे लोकोत्तर शक्ति सम्पन्न राम मानव नहीं हैं, वे निश्चय ही मानवेतर स ष्टि के जीव हैं।

8. **असुन्दरः** जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ कम चमत्कारजनक हो, असुन्दर हो, वहाँ असुन्दर व्यंग्य होता है। इसमें व्यंग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ में ही अधिक चारुता रहती है यथा-

जड़े विहगजन कुंजते, यह धुनि सुनि तत्काल।
सिथलित तन विकसित भई, ग हकारजरत बाल।
वानीर कुब्जोड्डीन शकुनिकोलाहलं श ण्वन्तयाः।
ग ह कर्म व्याप्तताया वध्वाः सदिन्त्यंगनि।।

व्यंग्यार्थ यह है कि ग हवधु ने अपने उपपति से मिलने के लिए वेतसकुंज में संकेत स्थल निश्चित किया है।

चित्र काव्य

जिस काव्य में व्यंग्यार्थ का अस्तित्व ही नहीं होता, उसको चित्रकाव्य या अधम काव्य कहते हैं। इसमें व्यंग्यार्थ का अभाव होता है, माधुर्यादि व्यंजक तथा अलंकारयुक्त शब्द एवं अर्थ की योजना रहती है। यह चित्रकाव्य भी दो प्रकार का होता है - शब्दचित्र एवं अर्थचित्र। जहाँ प्रधानतः शब्द चमत्कार विद्यमान होता है, वह शब्दचित्र कहलाता है। इसके अन्तर्गत मुख्यतः अनुप्रास एवं यमक की शब्द-क्रीड़ा आती है। एक छन्द-

नेह बरसाने, तेरे नेह बरसाने, देखि,
यह बरसाने बर मुरली बजावैंगे,
साजु लाल सारी, लाल करैं लालसा री,
देखिबे की लालसा री, लाल देखें सुख पावैंगे,
तू ही उरबसी, उरबसी नाहीं और तिय,
कोटि उरबासी तजि तोसों चित्त लावैंगे,
सेज बनवा रही, बनवा री तन आभरन,
गोरे तन वारी बनवारी आजु आवैंगे।

यहाँ कवि का सम्पूर्ण ध्यान यमक पर केन्द्रित है।